

आचार्य भरतमुनि का रस विवेचन—नरेश मेहता

सारांश

आचार्य भरतमुनि ने 'रस' को नाट्य के अन्तर्गत प्राथमिकता देते हुए कहा है कि रस के अभाव में नाट्याङ्ग का बुद्धिग्राह्य होना संभव नहीं है। स्पष्ट है कि भरत ने रस को नाट्य के अन्तर्गत अंगी के रूप में स्वीकृति दी है। अंगों को समुच्चय अंगी का निर्माण करता है। अंगों के अभाव में अंगी महत्वहीन है तो अंगी के अभाव में अस्तित्वहीन। अंगी की सही-सही जानकारी के लिए आवश्यक है, उसके अंगों के विषय में पूर्णतः परिज्ञान 'रस' के तीन अंग हैं— विभाव, अनुभाव और संचारी भाव। आचार्य भरतमुनि ने कहा है— "विभावनुभावसंचारीसंयोगाद्रस निष्पत्ति।" अर्थात् विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव, अनुभाव और संचारी के संयोग से संचारी-सामग्रीपरक तत्व (अंग) तथा रस (अंगी) में अड्डिग यहीं पर स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि इनके अभाव में रस निष्पत्ति संभव नहीं है, तथापि स्थायी भाव भी रस के क्षेत्र में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। रस के इन चार घटक तत्वों— विभाव, अनुभाव, संचारी भाव और स्थायी भाव के द्वारा ही रस सिद्धि होती है, और ये चारों घटक भाव के ही विविध रूप हैं।

मुख्य शब्द : आचार्य भरतमुनि, रस, काव्य।

प्रस्तावना

रस—सिद्धान्त भावों पर ही आधृत है। साध्य भाव ही होते हैं, इतर तत्वों का उपादान तो भावों की सिद्धि के लिए होता है। 'भू' धातु के कारण अर्थ में धयं प्रत्यय जोड़ने पर भाव—शब्द निर्मित होता है। इसका अर्थ परिव्याप्त व्याप्त होना है। जैसे लोक में कहा जाता है कि इस ग्रन्थ से या इस रस से यह भोज्य पदार्थ भाषित होता है। इसका अर्थ है कि वह ग्रन्थ या रस— जिससे भोज्य पदार्थ भाषित किया गया है। उस भोज्य पदार्थ में सर्वत्र व्याप्त होता है। जैसे— दाल में नमक, इसी प्रकार भाव भी संपूर्ण कृति में विद्यमान है। जिस प्रकार सूखी लकड़ी में अग्नि अनायास ही परिव्याप्त हो जाती है। वैसे ही हृदय को अभिभूत करने वाले अर्थ के भाव रस—प्रतीति के कारण होते हैं। स्पष्ट है कि जो अर्थ विभावों के द्वारा प्रस्तुत होकर अनुभावों तथा वाचिक, आंगिक, सात्विक अभिनयों द्वारा प्रतीति योग्य बनता है, उसे भाव कहते हैं।" प्रशान्त समुद्र के अनत स्थल में वायु के प्रभाव में जैसे अलोडन—विलोडन होता है, वैसे ही चित्तवृत्तियों में अनेक घटनायें विकार उत्पन्न करती हैं। लेकिन आचार्यों की इस धारणा के विषय में यदि व्यवहारिक ढंग से देखा जाय तो ज्ञात होता है कि नाट्यानुभूति और काव्यानुभूति, लोकानुभूति से भिन्न नहीं है और व्यक्ति जो भी प्रतिक्रिया काव्यानुभूति के अवसर पर करता है। वह चेष्टावान नहीं होती, मानसिक होती है। चेष्टागत न होने के कारण हैं। सहृदय की चेतना में बार-बार कोंधना कि हम जो कुछ देख सुन या पढ़ रहे हैं, वास्तविकता नहीं है। आचार्य विश्वनाथ जी ने इस विषय में अपना मत प्रस्तुत किया है कि प्रधान रूप से प्रतीयमान व्यभिचारी भाव, देवाधिषयिक रति या उद्बुद्ध मात्र स्थायी भाव की अभिव्यक्ति का नाम भाव ही होता है। रसों में भावों की संख्या उनचास है। इसमें से आठ स्थायी भाव, आठ सात्विक भाव और तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं। आठ सात्विक भावों के अनुभाव के अन्तर्गत आने से उनका विवेचन अनुभावों के ही अन्तर्गत किया गया है। स्थायी भावों से तात्पर्य उन भावों से ही है। जो स्थायी है। आचार्य अभिनवगुप्त की धारणा है कि अनादि वासना से वासित व्यक्ति की चित्तवृत्ति में सदैव विद्यमान रहने वाले तथा परिस्थिति की चित्तवृत्तियों में सदैव विद्यमान रहने वाले तथा परिस्थिति विशेष में जागृत होने वाले भाव ही स्थायी भाव हैं। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में कुछ ऐसे भाव हैं। वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के सुप्तावस्था में अवचेतन में विद्यमान रहते हैं और किसी विशेष परिस्थिति में जाग्रत होते हैं। 'स्थायी भाव' का महत्व अक्षुण्ण है क्योंकि ये ही रस दशा को प्राप्त होते हैं। आचार्य भरत ने स्थायी भाव को स्वामी के रूप में



शशि बाला रावत

प्रवक्ता,

हिन्दी विभाग,

हे0 न0 बहु0 गढ़वाल केन्द्रीय

वि0 विद्यालय, श्रीनगर,

गढ़वाल

प्रतिष्ठित किया। अतः आचार्य की दृष्टि से स्थायी भाव को उसी प्रकार रस का अंगी माना जा सकता है। जैसे—नाट्य का अंगी रस माना जाता है। स्थायी भाव के अभाव में अन्य भावों का कोई महत्व नहीं है। अतः स्थायी भाव का मूल तत्व है। जिसे विभाव, अनुभाव, संचारी आदि अन्य भावों का अवलम्बन कहा जा सकता है। जिस प्रकार शोक में पड़ा हुआ लवण दृष्टिगत नहीं होता, किन्तु उसमें पूर्णतः समाहित रहता है। वैसे ही स्थायी भाव रस में पूर्णतः व्याप्त रहता है।

अध्ययन का उद्देश्य

भरतमुनि ने भावों की संख्या—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय के नामों से आठ ही मानी जाती है। रसात्मक काव्य होने के कारण काव्य का मूल रूप रागात्मक या भावात्मक है किन्तु उसमें भी भाव का विचारों का जिनका बुद्धितत्व से संबंध है, नितान्त विच्छेद नहीं रहता। साहित्य में जहाँ शब्द और अर्थ के सहित होने का भाव रहता है, वहाँ रागात्मक तत्व प्रधान भावों और बुद्धितत्व प्रधान विचारों का भी सामंजस्य रहता है, चाहे गद्य और पद्य के रूपों में तत्वों की मात्रा का भेद हो। गद्य में विचारों की प्रधानता रहती है और पद्य में भावों की। अपने संकुचित अर्थ में भाव अपरिपक्व रस को कहते हैं किन्तु व्यापक अर्थ में मन के विकार—मात्र को कहते हैं और उसमें स्थायी और संचारी दोनों ही भाव आ जाते हैं।

शृंगार, करुण, रौद्र, वीर और भयानक तथा वात्सल्य के स्थायी भावों से पशु—पक्षी भी प्रभावित होते हैं। संचारी भावों का संबंध हमारी आत्मरक्षा से बिल्कुल सीधा नहीं है, वरन् स्थायी भावों द्वारा है। रति, क्रोध, उत्साह, विस्मय आदि। हमारी जीवनरक्षा से संबंधित है। हर्ष, गर्व, दीनता, ग्लानि, लज्जा, असूया (डाह) आदि गौण मनोवेग हैं और स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं। इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। संचारी भावों को व्यभिचारी भाव भी कहते हैं। व्यभिचारी शब्द 'वि' 'अभि' उपसर्गों तथा 'चर' धातु से जो चलने के अर्थवाली होती है, बना है।

विशेषादाभिमुख्येन चरन्ता व्यभिचारिणाः

स्थायिन्युनमन्वग्न निर्मगनास्त्रय स्त्रिंशच्च तदभिदाः।

आचार्य विश्वनाथ

(साहित्यदर्पण)

'रसो वै सः रस होवायं लब्धवान्दी भवति' "तैत्तिरीयश्रुति" सत्—चित् आनन्द परब्रह्माही रस है। यह प्रत्येक चैतन्य—जीवात्मा रस स्वरूप परमार्थतः निज रूप में अवस्थित होने पर ही आनन्दमय बन जाता है। रीतियों, वृत्तियों, या मार्गों के सहित, शब्दालंकारों से सुसज्जित, समुचित, सुन्दर शब्दों से विशेषित, अर्थालंकार विभावों, अनुभावों तथा संचारी भावों से विशिष्ट, विभाव, अनुभाव, संचारी निष्ठ व्यंजना के द्वारा प्रकाशित, सहृदय सामाजिक की आत्मा में वासना स्वरूप से अवस्थित रत्यादि स्थायी भाव को 'रस' कहा जाता है। स्थायी भाव रस है। रस

शब्द 'रस्' धातु से कर्म में 'क' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है। इस प्रकार इस शब्द का अर्थ हुआ आस्वाद्यमान अर्थात् जिसका स्वाद अनुभव गोचर होता है। यह लोकोत्तर सुख है, रस शब्द लोक में पेय—विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। वह एक प्रमाणक रस होता है, जिसमें निर्मल, शीतल, स्वादु जल तो होगा ही साथ में इलायची, सिता, कंला और जम्बीर द्रव सुगन्ध पदार्थ आदि ऐसे परिमाण से सम्मिलित किये गये हों कि जिससे सबका एक अपूर्व आस्वाद चर्वशा हो। रस एक अद्भुत विस्मया वह समष्टि है। इसमें अनेक महाग्रन्थ, समस्त सहृदय और अनुभव साक्षी हैं। श्री आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराज—जगन्नाथ, प्रभृति माननीय आचार्यगण रस का स्वरूप समष्टि—सिद्धान्त किये हैं। रस स्वरूप के मनोरम स्वरूप समूह में काव्य नाट्य के सुव्यवस्थित, सुघटित विपुल कोमल तत्व यथा सन्निवेश चमत्कृत रूप में सहृदय पुरुष को भूमिका क्रम से भासित होकर व्यंजना वृत्ति का प्रकाश कर रस—सुधा समुद्र का अवगाहन सुलभ कर देते हैं। इसका स्वरूप प्रथम मिश्रित, अनन्तर स्थायी मात्र, अन्ततः केवल आत्मा यह अलंकार शास्त्रज्ञ मर्मज्ञ विद्याविदों का सिद्धान्त नहीं है। रम्य, घृणित, उत्कृष्ट, नीच, हृदयंगम प्रसन्न, कठोर, विकारी वस्तु अथवा अवस्तु सुष्टि में कविनिर्मित एवं भावुक की भावना से भावित होने पर रस निष्पत्ति के योग्य हो जाते हैं।

निष्कर्ष

रस—स्वरूप विवेचन में अनेक प्रतिक्रियाएं हैं—मीमांसक भट्टलोलट भट्टमतानुगामी प्रतीत होते हैं। क्योंकि भ्रान्ति नामक ज्ञान का प्रकार उसको अभिमत है। प्रभाकर गुरु के मत का अनुसरण करने वाले भ्रान्ति नहीं होते हैं। अतः भट्टलोलट प्रभृति भाट्ट हैं। वे लौकिक श्रंगारादिक को रस कहते हैं। उनका रस वस्तुगत्या अनुकार्य दृष्यन्त शकुन्तलादि गत हैं।

रस में मूलरस की कल्पना को लेकर और भवभूति के "एकोरसः करुण एवं" से प्रारम्भ कर लेखक ने काफी स्वच्छ विवेचन किया है। मूलरस के रूप में शान्त रस की अभिनवगुप्त द्वारा की गयी स्थापना का भी संक्षिप्त परिचय मिल जाता है। डॉ० नगेन्द्र ने लिखा है कि 'चमत्कार शब्द भारतीय साहित्यकार का अत्यन्त महत्वपूर्ण शब्द है।' 'अभिनव' ने विघ्नरहित अर्थात् आत्मा के आनन्दमय आस्वादन रूप की अबाधित प्रतिपत्ति है। इसका विस्तार 'मुक्तिबोध' भगवद्भक्ति रसायन' और गौडीय कृष्णभक्ति के संबद्ध ग्रन्थों में मिलता है। इसी को भक्तों ने अप्राकृत रस का नाम देकर मूलरस कहा है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. 'हिन्दी समीक्षा के रस सिद्धान्त' कु० नीरजा टंडन पृष्ठ— 26—27.
2. 'नाट्यशास्त्र,' अध्याय—6।
3. 'साहित्यदर्पण' (आचार्य विश्वनाथ)।
4. 'रस विमर्श' लेखक राममूर्ति त्रिपाठी— पेज नं०—9.